23
भारतीय ज्ञान परम्परा से समाज का एवं व्यक्तित्व का विकास

डॉ. सुनिता इन्दौरिया
सहायक आचार्य
जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं-341306, राजस्थान

सारांश

वैयक्तिक व सामाजिक विकास के आधार व्यक्ति या समाज के उत्कृष्ट कार्य एवं सदाचार होते हैं। भारतवर्ष पुरातन काल से समस्त विश्व को सदाचार की शिक्षा देने में विश्वगुरु की भूमिका निभाता रहा है।

भारतवर्ष की ज्ञान-परंपरा का आदिम स्रोत वेद है। उसे सर्वज्ञानमय कहा गया है। उसमें मानव धर्म का व्याख्यान निहित है। यह धर्म ही लौकिक व पारलौकिक दोनों प्रकार के कल्याण का साधन है। इस प्रकार, यह धर्म ही व्यक्ति को एवं समाज के स्तर को विकसित करने में, उसे उत्कृष्टता प्रदान करने में सिद्ध होता है। धर्म के कारण ही पाशविक स्तर से ऊपर उठकर मानवीय स्तर में पहुंच पाना संभव हो सकता है, अर्थात् व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक विकास दोनों में ही धर्म की भूमिका निर्विवाद है।

वेदज्ञान के आधार पर वैदिक स्मृतिकारों ने वर्णाश्रम धर्म का उपदेश दिया है। वर्ण व आश्रम धर्म, दोनों से ही व्यक्तित्व का विकास और परम्परया सामाजिक विकास संभव होता है। ब्राह्मणादि वर्ण अपने लिए निर्धारित धर्म के पालन द्वारा आत्मीय, पारिवारिक व सामाजिक कल्याण के दायित्वों को पूर्ण करते हैं। प्रत्येक वर्ण बौद्धिक, शासकीय व व्यवसायात्मक कौशल को विकसित करने का प्रयास करता है। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत् भी क्रमशः ज्ञानवर्धन, पारिवारिक जीवन को

सुखमय बनाना, पारलौकिक जीवन को सुधारना आदि लक्ष्यों की प्राप्ति सुनिश्चित होती है।

ज्ञान स्वयं पवित्र है और ज्ञाता को भी पवित्र बनाता है। यह पवित्रता भी व्यक्तित्व के विकास का आधार बनती है।

ज्ञान-विज्ञान के प्रसार हेतु भारत में शिक्षण व्यवस्था परिवर्धित हुई। गुरुकुलों में विद्यार्थी-ज्ञान विज्ञान सभी विद्याओं का अध्ययन करते थे । अध्ययन की समाप्ति पर उन्हें जो उपदेश दिया जाता था, वह था-सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायन्माप्रमदः अर्थात् सत्य बोलो, धर्माचरण करो और स्वाध्याय करते रहो। यह शिक्षा भी अध्येता के नैतिक व बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास का पथ प्रशस्त करती थी।

आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में ज्ञान का विशेष महŸव माना गया है। आत्मा, अनात्मा व परमात्मा इनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, आध्यात्मिक विकास की यात्रा सम्पन्न की जाती रही है। ज्ञानी व्यक्ति प्रेय व श्रेय में श्रेय को मुख्यता देता है। ज्ञानवान् होने का लक्षण माना गया है- समत्व बुद्धि का प्रादुर्भाव। गीता में कहा भी गया है- पण्डिताः समदर्शिनः। यह समत्व बुद्धि आध्यात्मिक विकास में तो सहायक थी ही, सामाजिक समरसता की भी आधार भूमि होती थी। साधना के श्रेत्र में 'ज्ञान योग' को अधिक महव दिया गया है। इससे भी ज्ञान की महत्व सुस्पष्ट होती है। अध्यात्म यात्रा में विज्ञान ही सारथी के रूप में भूमिका निभाता है। ज्ञान रूपी अंकुश द्वारा ही इन्द्रियजय सम्भव होता है जो व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में आवश्यक है। इस प्रकार, भारतीय ज्ञान-परम्परा वैयक्तिक व सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान देती रही है।

व्यक्ति और समाज दोनों ही अपने नैतिक सदाचार एवं जन-कल्याणकारी कार्यों के आधार पर अपना विकास करते हैं। इस विकास की पृष्ठभूमि में बौद्धिक विकास की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है और यह बौद्धिक विकास भी उत्कृष्ट ज्ञान-परम्परा पर आधारित होता है।

भारत : विश्वगुरु हमारा भारतवर्ष पुरातन काल से समस्त विश्व को सदाचार की शिक्षा देने में विश्वगुरु की भूमिका निभाता रहा है। मानव सभ्यता और संस्कृति के पुरोधा मनु ने भी स्पष्ट उद्घोषणा की है-

एतद्देषप्रसूतस्य सकाषादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं षिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

भारतवर्ष की ज्ञान व सदाचार की इस परम्परा पर रीझ कर देवतागण भी यहां आने के लिए लालायित रहते हैं और यहां के निवासियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

भारतीय ज्ञान-परम्परा का स्रोत : वेद

भारतवर्ष की उक्त सर्वोत्कृष्ट ज्ञान-परम्परा का प्रमुख व प्रथम स्रोत 'वेद' (तदाधारित स्मृति ग्रन्थ) हैं, उसे सर्वज्ञानमय कहा गया है एवं माना गया है कि इसमें समस्त मानव धर्म का उपदेश निहित है। वेद-प्रतिपादित धर्म ही लौकिक व पारलौकिक, दोनों प्रकार के कल्याण का साधन सिद्ध होता है। इस प्रकार यह धर्म भी व्यक्ति और समाज के स्तर को विकसित करने में सक्षम सिद्ध होता है। धर्म के कारण ही कोई व्यक्ति अन्य पशु-प्राणियों एवं सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर पाता है।

ज्ञान-परम्परा की देन : आचार संहिता

भारतीय ज्ञान-परम्परा की प्रमुख देन है-यहां की आचार संहिता। वस्तुतः सैद्धान्तिक ज्ञान का ही प्रायोगिक रूप है-उसका आचरण। ज्ञान की सार्थकता आचरण में ही निहित है। ज्ञान व आचार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो ज्ञान आचरण में न उतरे, वह अज्ञान ही है। गीता ईश्वरीय ज्ञान है, उसकी सार्थकता निष्काम कर्म योग, भक्ति योग, ज्ञान योग, समत्व योग आदि के आचरण में ही निहित है। अतः ज्ञान व आचार- ये दोनों परम्पराएं परस्पर अनुस्यूत हैं।

आचरण का समष्टि रूप 'धर्म' है। ज्ञान का आचरण ही धर्म का व्यावहारिक रूप है। इसलिए कहा गया है-आचारः परमो धर्मः। वेदोक्त धर्म को ही स्मृतिकारों ने वर्णाश्रम धर्म नाम से अभिहित किया है। यह धर्म ईश्वरकृत है, अर्थात्

गुण-कर्म आधारित यह व्यवस्था अनादि काल से प्रवर्तित है। गीता में भगवान् ने स्वयं यह कहा है-वर्ण व्यवस्था का प्रवर्तन मेरे द्वारा ही हुआ है।

वर्णाश्रम धर्म : विकास का सोपान

ईश्वर ने चारों वर्णों की सृष्टि की और प्रत्येक व्यक्ति के लिये आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत वैयक्तिक व आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। वर्णाश्रम धर्म का उपदेश मानव जाति के लिए उसके विकास का मंत्र था। वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था व्यक्ति व समाज दोनों को लाभान्वित करती रही है, उनका विकास व उन्नयन करती रही है। प्रत्येक वर्ण (विशिष्ट समुदाय) अपने लिये निर्धारित कर्त्तव्यों के पालन से अपने व्यक्तित्व को संस्कृत, परिष्कृत व समुन्नत करता था। फलस्वरूप समाज की श्रेष्ठता या उन्नति भी सम्पन्न होती थी।

ब्राह्मण वर्ण अध्ययन-अध्यापन, ज्ञान-परम्परा का संरक्षण व प्रचार-प्रसार, ज्ञानार्जन व ज्ञानदान, यज्ञ-सम्पादन आदि अपने कर्त्तव्यों से, क्षत्रिय वर्ण शूरता व वीरता, अस्त्र-शस्त्र कौशल का विकास, जन-रक्षा, दान, राष्ट्र-संरक्षण आदि कर्त्तव्यों द्वारा, वैश्य वर्ण कृषि, वाणिज्य, दूरवर्ती देशों की अलभ्य वस्तुओं को उपलब्ध कराना एवं समीपवर्ती प्रदेश की वस्तुओं को दूर देशों तक पहुंचाना आदि कार्यों द्वारा एवं शूद्र सेवा-कार्य द्वारा, इस प्रकार सभी वर्ण बौद्धिक, शासकीय व व्यवसायात्मक कौशल को विकसित करते थे, साथ ही पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय कल्याण के दायित्वों को भी पूर्ण करते थे, जिससे सामाजिक विकास की नींव भी सुदृढ़ होती थी।

इतना ही नहीं, वर्णधर्म के सम्यक्तया आचरण से प्रत्येक व्यक्ति परम सिद्धि (परम निःश्रेयस मोक्ष) भी प्राप्त कर लेता था; अर्थात् अपना आध्यात्मिक विकास करते हुए उसकी अन्तिम परिणति मोक्ष को भी प्राप्त करता था।

आश्रम व्यवस्था में भी व्यक्ति क्रमशः ज्ञानवर्धन करता है, पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाता है, अन्त में पारलौकिक जीवन को सुखमय बनाने और सांसारिक दुःखों की परम्परा से छूटने के लिए विशेष संयममय जीवन व्यतीत करता है। 'सा विद्या या विमुक्तये' इस उक्ति को वह चरितार्थ करता है। इस प्रकार, आश्रम

व्यवस्था में नैतिक, सामाजिक प्रतिष्ठा के अलावा मोक्ष-प्राप्ति भी सुलभ हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि समग्र वर्णाश्रम धर्म, व्यक्ति व समाज दोनों के विकास का साधन बनता रहा है।

धर्म के दस भेदों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि) का पालन करने वाला व्यक्ति स्वयं की मानसिक शान्ति को तो प्राप्त करता ही है, इसके फलस्वरूप समाज में भी सुख-शान्ति, सौमनस्य, समरसता आदि की स्वतः सम्पन्नता हो जाती है।

ज्ञान-निधि की महत्ता व सुरक्षा

व्यक्तित्व के विकास में परम सहायक होने से इस 'ज्ञान' को सर्वाधिक पवित्र माना गया है। गीता में कहा गया है- न हि ज्ञानेन सदृषं पवित्रमिह विद्यते।

ज्ञान व्यक्ति को भी पावन बनाता है, इसलिए वेद में कहा गया है-'पावका नः सरस्वती।' अर्थात् सरस्वती (ज्ञान-शक्ति) हम सबको पवित्र करने वाली है। इस ज्ञान निधि की महत्ता व उपादेयता को दृष्टि में रखकर वेद में प्रार्थनाएं भी की गई हैं। उदाहरणार्थ-

1. सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि। अर्थात् हम सब श्रुत (ज्ञान) से युक्त हों, श्रुत (ज्ञान) के साथ कभी हमारा वियोग न हो।

2. 'तेजस्वि नावधीतमस्तु' अर्थात् हमारा अध्ययन (ज्ञान) तेजस्वी (ऊर्जावान्) हों।

ज्ञान की व्यावहारिक जीवन में यह उपादेयता है कि इसका आश्रयण लेकर पापाचार से बचा जा सकता है। इसीलिए गीता में कहा गया है-

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि। अर्थात् ज्ञान रूपी नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्र को तरा जा सकता है, अर्थात् उसे निर्विघ्न पार किया जा सकता है।

औपनिषदिक विचारधारा में आत्मज्ञान की श्रेष्ठता

अध्यात्म यात्रा की दृष्टि से उपनिषदों में आत्मज्ञान को ही केन्द्रित किया गया है-

''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति।।''

वृहदारण्यक उपनिषद् की यह कथा प्रसिद्ध है कि ''वृद्धावस्था आने पर दार्शनिक-शिरोमणि याज्ञवल्क्य ने अपनी सम्पत्ति का विभाजन अपनी दोनों पत्नियां (कात्यायनी तथा मैत्रेयी) के बीच में कर दिया। तब विदुषी मैत्रेयी ने अस्थिर लौकिक सम्पत्ति के ग्रहण करने में बड़ी अनास्था दिखलाई और पूछा कि यदि यह सम्पूर्ण पृथ्वी मेरे लिए धन से पूर्ण हो जाए तो क्या मैं उससे अमरत्व प्राप्त कर सकूंगी? 'बिल्कुल नहीं' महर्षि ने उत्तर में कहा। ''तुम्हारा जीवन उस आदमी के जीवन के समान होगा, जिसे आनन्द की समस्त सामग्रियां प्राप्त हैं, परन्तु केवल धन-प्राप्ति से अमरत्व पाने की तनिक भी आशा नहीं है''। तब मैत्रेयी ने पुनः पूछा कि- ''जिस धन से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती, उसको लेकर मैं क्या करूंगी; मैं तो अमरत्व की भूखी हूं।'' तब महर्षि ने उससे सम्पत्ति से बढ़कर प्रियतर वस्तुओं का नाम पूछा। मैत्रेयी ने ऐसी अनेक वस्तुओं का नाम लिया। इस उत्तर को सुनकर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया वह भारतीय धर्म तथा दर्शन के इतिहास में सदा अमर रहेगा। उन्होंने कहा-''पति के लिये पति प्यारा नहीं है, बल्कि आत्मा के लिए। पत्नी के लिये पत्नी प्यारी नहीं है, बल्कि आत्मा के लिए। पुत्र के लिए पुत्र प्यारा नहीं है, बल्कि आत्मा के लिए। संसार की समस्त वस्तु अपने लिये प्यारी नहीं होती, बल्कि आत्मा के लिए। अतः सबसे प्रिय वस्तु आत्मा ही है। इसलिये इस आत्मा को प्रत्यक्ष करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए तथा निदिध्यासन (सतत ध्यान करना) चाहिए, क्योंकि आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से सब कुछ जाना जा सकता है।''

महर्षि याज्ञवल्क्य का यह उपदेश भारतीय दर्शन तथा धर्म की मूल-भित्ति है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा का साक्षात्कार-आत्मा का साक्षात् अनुभव है। इस अनुभव के लिए उपनिषद् तीन साधनों का उपदेश देती है-श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। आत्म तत्त्व का श्रवण करना चाहिए श्रुतिवाक्यों से, मनन करना चाहिए तार्किक युक्तियों से तथा निदिध्यासन करना चाहिए योग-प्रतिपादित उपायों के द्वारा।

व्यक्तित्व के विकास में ज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका

ज्ञान-परम्परा को आत्मसात् करने वाले व्यक्ति के वैयक्तिक व सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसे अनेक दृष्टियों से आंका जा सकता है। समाज-विकास में व्यक्ति का मर्यादित, संयमित एवं शास्त्र-सम्मत आचरण करना आवश्यक होता है। अर्थात् समाज का विकास तभी संभव है, जब समाज का घटक प्रत्येक व्यक्ति परम्परागत ज्ञान-परम्परा को आत्मसात् करे और जीवन में उसे क्रियान्वित भी करें।

धार्मिक व सामाजिक जीवन में व्यक्ति का संयमनिष्ठ होना या जितेन्द्रिय होना परम आवश्यक होता है। यह इन्द्रियजय भी सद्ज्ञान के बल पर ही संभव होता है। योग साधना के क्रम में इस इन्द्रियजय से अनेक सिद्धियों की प्राप्ति होना माना गया है।

ज्ञानी व्यक्ति प्रेम व श्रेय में श्रेय को चुनता है। कठोपनिषद् में कहा भी गया है कि-

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमात् वृणीते।।

वेदों में सुख के दो साधन बताये गये हैं-

1. श्रेय सदा के लिए सब प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूटकर नित्य आनन्द स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्राप्त करने का उपाय।

2. प्रेय अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मकान, सम्मान, यज्ञ आदि इहलोक की और स्वर्गलोक की जितनी भी प्राकृत सुखभोग की सामग्रियां हैं, उनकी प्राप्ति का उपाय। तात्पर्य यह है कि जिसने ज्ञान-परम्परा को सम्यक्तया आत्मसात् किया है, वह प्रेय के प्रति आसक्त न होकर आत्मकल्याणकारी श्रेय को अंगीकार करता है। ज्ञानी व्यक्ति का लक्ष्य 'सत्यं षिवं सुन्दरम्' की साधना हो जाता है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- इन चार पुरुषार्थों विशेषतः मोक्ष की साधना सम्यक्तया कर सकता है।

इस प्रकार, व्यक्ति की लौकिक अभ्युदय एवं मुक्ति की साधना में ज्ञान की महत्ता निर्विवाद सिद्ध होती है।

आध्यात्मिक विकास में ज्ञान की महती उपादेयता

आध्यात्मिक विकास की यात्रा में तत्त्व ज्ञान होना अनिवार्य माना गया है। आत्मा-परमात्मादि विषयक ज्ञान के आधार पर ही यात्रा सम्भव होती है। वस्तुतः वास्तविक व श्रेष्ठ ज्ञान 'अध्यात्म विद्या' ही है। यही अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की साधक है। कहा भी गया है-'सा विद्या या विमुक्तये'। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार भोक्ता अर्थात् आत्मा भोग्य अर्थात् अनात्मा एवं प्रेरिता अर्थात् परमात्मा- इन तीन का ज्ञान अत्यावश्यक है। गीता के अनुसार उक्त तत्त्व ज्ञान में निरत रहते हुए सब प्राणियों में सभी चराचर में परमात्मा को देखना यही वास्तविक ज्ञान है, शेष अज्ञान है। सभी प्राणियों में अविनाशी परमात्मा का दर्शन ही सात्त्विक ज्ञान है। गीता के शब्दों में ऐसा ज्ञानी ही भगवान् को प्रिय होता है। गीता में योगी के लिए जितेन्द्रिय व समबुद्धि (समत्वुद्धि) के अलावा ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा विशेषण भी दिया गया है, अर्थात् योगी ज्ञान-विज्ञान रूपी रस में डूबा रहता है।

इस अध्यात्म विकास की यात्रा में तत्त्व-ज्ञान या ज्ञान-विज्ञान (निर्मल ज्ञानात्मक शुद्ध बुद्धि) ही सारथी की भूमिका निभाता है।

योग साधना में भी अविद्या (अज्ञान) को ही सांसारिक पांच क्लेशों की मूल माना गया है। उसका निवारण किये बिना साधना सम्पन्न नहीं हो सकती।

व्यावहारिक जगत् में ज्ञानी या पण्डित उसे कहा गया है- जिसमें समत्व बुद्धि हो। कहा भी गया है- पण्डिताः समदर्षिनः।

उक्त समत्व बुद्धि के कारण सामाजिक विषमता का निराकरण होकर सामाजिक समरसता का संवर्द्धन होता है। गीता के अनुसार समताभावी व्यक्ति 'संसार विजयी' के समान होता है। भगवद्गीता एवं पुराणों में 'ज्ञानयोग' का पृथक् निरूपण भी किया गया है। इस प्रकार, आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान की महत्ता निर्विवाद सिद्ध होती है।

ज्ञान-परम्परा की रक्षक : भारतीय शिक्षा प्रणाली

भारतीय ज्ञान-परम्परा के प्रचार-प्रसार हेतु भारत में शिक्षण व्यवस्था भी प्रतिष्ठापित व परिवर्धित हुई। गुरुकुलों में विद्यार्थी ज्ञान-विज्ञान की सभी विद्याओं

का अध्ययन करते थे। गुरुकुल का वातावरण एवं वहां की अध्यापन पद्धति दोनों ही विद्यार्थियों में बौद्धिक विकास के साथ-साथ, चारित्रिक विकास भी करते थे। वस्तुतः यहां व्यक्तित्व की विकास की नींव सुदृढ़ की जाती थी। अध्ययन की समाप्ति पर विद्यार्थियों को यह संदेश दिया जाता था-'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यान्मा प्रमदः'। यह उपदेश भी अध्येता के भावी बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक विकास का प्रभावशाली मन्त्र था।

सत्य भाषण व धर्माचरण की शिक्षा स्पष्ट रूप से व्यक्ति व समाज के स्तर को उन्नत करने वाली थी। स्वाध्याय का अभ्यास भी व्यक्ति में वह योग्यता उत्पन्न कर सकता था, जिससे ब्रह्म प्राप्ति भी हो सकती थी। भगवद्गीता में भी स्वाध्याय को ज्ञानयज्ञ कहा गया है। स्वाध्यायशील व्यक्ति व्यावहारिक जगत् में भी बौद्धिक, नैतिक आध्यात्मिक दृष्टि से स्वयं का वर्चस्व स्थापित करने में सक्षम होता है। शास्त्राभ्यास से व्यक्ति का बौद्धिक स्तर विकसित होता ही है, ऐसा मनुस्मृतिकार का कथन है। स्वाध्याय को शास्त्रों में परम तप भी कहा गया है।

उपसंहार

इस प्रकार, भारतीय ज्ञान-परम्परा व्यक्ति और समाज के विकास में प्रमुख साधन रही है। अज्ञान को अन्धकार की तथा ज्ञान को प्रकाश की उपमा दी जाती रही है। इसलिये वैदिक मन्त्रां में प्रार्थना की गई है कि अन्धकार से प्रकाश की और बढ़ें, अर्थात् अज्ञान का विनाश कर ज्ञान का संवर्द्धन करें।

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

उपर्युक्त समग्र निरूपण के परिप्रेक्ष्य में हम सबका कर्त्तव्य है कि वेदादि प्राचीन भारतीय शास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन-मनन, वैचारिक आदान-प्रदान आदि के माध्यम से इस ज्ञान की रक्षा करें, और व्यक्ति और समाज के विकास में योगदान दें।

संदर्भ स्थल

- मनुस्मृति, 2/20
- अहो अमीषां किमकारि शोभनम्,
- प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
- यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे,
- मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः।। (भागवत पुराण, 5/19/21)
- मनुस्मृति, 2/7
- यः कश्चिद् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
- स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। (मनुस्मृति,2/7)
- यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक दर्शन, 1/1/2)
- आहारनिद्राभयमैथुनं च
- सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
- धर्मो हि तेषामधिको विशेषः,
- धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।। (सुभाषित)
- मनुस्मृति, 1/108
- मनुस्मृति, 1/107
- चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
- तस्य कर्तारमपि मां विद्वयकर्तारमव्ययम्।। (गीता, 4/13)
- प्रत्येक वर्ण के धर्म के परिचय हेतु द्रष्टव्य, मनुस्मृति 10/75-80, 121-123; गीता 18/42-44
- गीता, 18/45
- स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
- स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।
- गीता, 4/38
- ऋग्वेद, 1/3/10
- अथर्ववेद, 1/1/4
- तैत्तिरीयारण्यक, 8/2
- गीता, 4/36

- वृहदारण्यक उपनिषद्, 2/4/8
- वृहदारण्यक उपनिषद्, 2/4
- मनुस्मृति, 2/96
- योगसूत्र, 3/47-48
- कठोपनिषद्, 1/2/2
- 'अध्यात्म विद्या विद्यानां' (गीता, 10/32)
- 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (ईशावास्य उपनिषद्)
- एतज् ज्ञेयं नित्यमतेवात्मसंस्थं,
- नतः परं वेदितव्यं हि किंचित्।
- भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा,
- सर्व प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत्।। (श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/12)
- गीता, 13/11
- गीता, 18/20
- गीता, 7/17
- गीता, 6/8
- कठोपनिषद्, 1/3/9, 1/3/3-4; गीता, 18/51-53
- अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। (योग सूत्र, 2/4)
- गीता, 5/18
- गीता, 5/19
- तैत्तिरीय उपनिषद्, 1/11/1
- स्वाध्यायेन.....ब्राह्मीयं क्रियते तनू : (मनुस्मृति, 2/28)
- गीता, 4/28
- मनुस्मृति, 4/20
- वृहदारण्यक उपनिषद्, 1/3-4